

“मुझे ऐसा लगता है कि एक नई संस्कृति, नई जीवन शैली रचने के लिए, हम पर्याप्त रचनात्मक ऊर्जा का प्रयोग कर ही नहीं रहे हैं, क्योंकि इस देश की प्राचीन ब्राह्मणवादी संस्कृति तो अब समाप्त ही हो गई है—वह संस्कृति, जिसे हम अच्छी या बुरी नहीं कह रहे हैं, वह तीन-चार हज़ार वर्षों से चली आ रही थी; वह पूरी तरह ग़ायब हो चुकी है।”

—जे. कृष्णमूर्ति



जे. कृष्णमूर्ति परिसंचाद

वर्ष : 12 अंक : 1

सितंबर 2017

कृष्णमूर्ति फाउण्डेशन इंडिया, वाराणसी की त्रैमासिक हिंदी पत्रिका
सितंबर, दिसंबर, मार्च एवं जून में प्रकाशित

संपादक : चैतन्य नागर

पृष्ठ संख्या

नई संस्कृति की आवश्यकता	5
स्पष्ट समझ जरूरी है	23

वार्षिक शुल्क : रु. 150.00
पांच वर्ष के लिए : रु. 600.00 दस वर्ष के लिए रु. 1000.00

संपादकीय

रचनात्मक ऊर्जा की दृष्टिकोण

इन दिनों देश-दुनिया में जो कुछ भी हो रहा है, वह हमारे पुराने, शाश्वत प्रश्नों में जैसे एक नया जीवन फूंक दे रहा है। जो लोग प्राचीन संस्कृति के प्रबल प्रतिनिधि होने का दावा करते फिर रहे हैं, उनके हाथों ही उस संस्कृति के सौंदर्य की हत्या हो रही है। और ऐसा सिर्फ धर्म के क्षेत्र में ही नहीं, बल्कि राजनीति और जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी हो रहा है। जिस समाज का वर्तमान खोखला हो जाए, वह आम तौर पर अतीत के गौरव-गान में मग्न हो जाता है और ऐसा करते समय उसे यह भ्रम होता है वह अपने वर्तमान के खालीपन और भयावहता दोनों से दूर भाग जाएगा। पर वर्तमान अपने पूरे हठ के साथ अपनी जगह पर जमा रहता है, पलायन के हमारे सभी प्रयासों को ठेंगा दिखाते हुए।

कृष्णमूर्ति कहते हैं कि परिवर्तन के लिए हम पर्याप्त रचनात्मक ऊर्जा का उपयोग ही नहीं कर रहे। ऐसा इसलिए है क्योंकि अक्सर स्थिति की भयावहता का बोध ही सृजनशील ऊर्जा के प्रवाह में मदद करता है, पर हमारा बोध या तो आंशिक है या फिर है ही नहीं।

कोलकाता में अपनी मृत्यु से मात्र चार साल पहले दी गयी अपनी वार्ता में कृष्णमूर्ति कहते हैं:

‘मुझे ऐसा लगता है कि एक नई संस्कृति, नई जीवन शैली रचने के लिए, हम पर्याप्त रचनात्मक ऊर्जा का प्रयोग कर ही नहीं रहे हैं, क्योंकि इस देश की प्राचीन ब्राह्मणवादी संस्कृति तो अब समाप्त ही हो गई है—वह संस्कृति, जिसे हम अच्छी या बुरी नहीं कह रहे हैं, वह तीन-चार हज़ार वर्षों से चली आ रही थी, वह पूरी गायब हो चुकी है। और मेरा प्रश्न है कि जिस संस्कृति के संग आदमी इतने लंबे समय तक रहता आया था, वह गायब क्यों हो गई है। शायद वह कोई संस्कृति थी ही नहीं। वह केवल निर्जीव शब्दों की, परंपराओं की एक श्रृंखला मात्र थी।’

क्या परंपरा का अब कोई अर्थ नहीं रहा? क्या वह वास्तव में निर्जीव शब्दों की एक श्रृंखला भर है? जो परंपरा अब अस्तित्व में रही ही नहीं, उसकी दुहाई अब हम क्यों दे रहे हैं।

परिसंवाद के इस अंक में जे. कृष्णमूर्ति ने इन्हीं सवालों की पढ़ताल की है।



नई अंकृति की आवश्यकता

हम देख सकते हैं कि इस संसार के हर देश में अव्यवस्था ही अव्यवस्था व्याप्त है। लेकिन इस देश में तो यह बिल्कुल स्पष्ट है, जाहिर है। जहाँ अनिश्चितता होती है, अव्यवस्था होती है, गड़बड़ होती है, जहाँ सब यह जान चुके होते हैं कि दुनिया भर के राजनेता हालात को बद से बदतर बना रहे हैं, जहाँ सब यह जान गए होते हैं कि दुनिया भर के धर्म अपना अर्थ खो चुके हैं; यह सब देख कर कुछ ऐसे लोग भी हैं जिन्होंने खुद को फँडामेंटलिस्ट कहना शुरू कर दिया है और वे बाइबिल, कुरान या किसी और धार्मिक ग्रंथ में लिखी बातों की ओर वापस चले गए हैं—यह सोचते हुए कि अगर वे उन ग्रंथों के अनुसार चलेंगे तो यह तमाम अव्यवस्था, दुर्व्यवस्था दूर हो जायेगी। यही तो आज सारे संसार में हो रहा है—अतीत में चले जाना और कुछ विश्वासों को पाल लेना। हममें से हर कोई किसी न किसी रूप में यही कर रहा है इस संसार में, जो कि बहुत अधिक दुर्व्यवस्थाओं से भर गया है, आंदोलित हो रहा है, बेचैन और अशांत हो गया

है, ख़तरनाक हो गया है और हर समय युद्ध की तैयारी में जुटा रहता है, वहाँ स्वाभाविक है कि हम सुरक्षा चाहने लगते हैं, बाहरी भी और भीतरी भी। बाहरी संसार में अधिक सुरक्षा नहीं है। चाहे आप बहुत धनी व संपन्न हों, या राजनैतिक रूप से बहुत सशक्त हों, या आपने किसी मत-विश्वास में कोई सुरक्षा ढूँढ़ ली हो, लेकिन इनमें से किसी में भी कोई सुरक्षा नहीं है। आदमी सुरक्षा चाहता है। हम सबको सुरक्षा चाहिए ही—रोटी, कपड़ा और मकान के अर्थ में सुरक्षा। साथ ही, हमको आंतरिक सुरक्षा भी चाहिए, कोई ऐसी चीज़ जो हमें आश्वासन दे, स्थिरता दे, सबलता का एक एहसास दे। लेकिन किसी विश्वास में, किसी धर्म-सिद्धांत में, किसी आदर्श में, कोई सुरक्षा नहीं है। इनमें से किसी में सुरक्षा न पाकर आदमी अतीत की तरफ़ मुड़ जाता है और आशाओं का मुँह ताकने लगता है ताकि कोई आशा, कोई शब्द मिले जिसका वह दामन थाम सके।

पता नहीं कि आपने इसे देखा है या नहीं कि किसी प्रकार के निष्कर्ष के साथ—वह चाहे औचित्यपूर्ण हो, तर्कपूर्ण हो या किसी अथॉरिटी का बताया गया निष्कर्ष हो—उसके साथ जितना अधिक आप जुड़ जाते हैं, आपकी ऊर्जा उतनी ही घट जाया करती है। जहाँ कहीं भी निष्कर्ष होगा वहाँ ऊर्जा का अभाव होगा क्योंकि जब आप किसी निष्कर्ष पर पहुंच जाते हैं—यानी किसी बहस-मुबाहसे के बाद आप एक ऐसे बिंदु पर पहुंच जाते हैं जिसे कि आप सही मानते हैं, तब आप किसी भावी छानबीन की व जिज्ञासा की संभावना का दरवाज़ा बंद कर देते हैं, और यही आज संसार में हो रहा है। हम सभी कोई न कोई निष्कर्ष चाहते हैं, जैसे कि क्या ईश्वर है, क्या शांति कभी होगी, इत्यादि। भीतरी और बाहरी तौर पर सुरक्षा का अभाव होना, यानी ऐसी चीज़ का अभाव होना जिस पर हम पूरी तरह विश्वास जमा सकें, जिस पर निर्भर हो सकें, एक सुखद एहसास। इसके लिए हम किसी परंपरागत निष्कर्ष के साथ जुड़ जाते हैं और इसलिए पूछताछ की, छानबीन की,

जिज्ञासा की महत्वपूर्ण रचनात्मक ऊर्जा को खो बैठते हैं। जिज्ञासा का अर्थ है गहरे पैठ करना, छानबीन करना, खोजबीन करना, बंद दरवाजे को खोलना, और आगे पता लगाना। लेकिन हममें से अधिकांश जनों में वह ऊर्जा, वह ओज है ही नहीं, इसलिए हम वापस उन्हीं बातों के आसरे रहने लगते हैं जिन्हें हम परंपरा का, धर्मग्रंथ का या कुछ और नाम दे देते हैं।

मुझे ऐसा लगता है कि एक नई संस्कृति, नई जीवन शैली रचने के लिए, हम पर्याप्त रचनात्मक ऊर्जा का प्रयोग कर ही नहीं रहे हैं, क्योंकि इस देश की प्राचीन ब्राह्मणवादी संस्कृति तो अब समाप्त ही हो गई है—वह संस्कृति, जिसे हम अच्छी या बुरी नहीं कह रहे हैं, वह तीन-चार हजार वर्षों से चली आ रही थी, वह पूरी गायब हो चुकी है। और मेरा प्रश्न है कि जिस संस्कृति के संग आदमी इतने लंबे समय तक रहता आया था, वह गायब क्यों हो गई है। शायद वह कोई संस्कृति थी ही नहीं। वह केवल निर्जीव शब्दों की, परंपराओं की एक शृंखला मात्र थी। तो, मिलजुल कर अपने दिलोदिमाग की खोजबीन करने में, उस मन की छानबीन करने में जो कि हमारी समस्त क्रियाओं, भावनाओं और विचारों का केंद्र है, हम देखें कि क्या उस रचनात्मक ऊर्जा का इस्तेमाल करना संभव है। हम इसी खोज में उतर रहे हैं, सावधानी से।

सुनना एक कला होती है, और सीखना भी एक कला होती है। हमारा सीखना अधिकांशतः ज्ञान का संग्रह करना होता है; गणित, जीवविज्ञान या भौतिक विज्ञान को जानना नहीं बल्कि उनके बारे में ढेर सारी सूचनाओं को दिमाग़ में ठूंस-ठूंस कर भर लेना, और वही गणित, भौतिक विज्ञान इत्यादि का ज्ञान बन जाता है। हम यही तो कर रहे हैं, और इसी को हम सीखना कह देते हैं, यानी एक इंजीनियर की तरह, एक खगोल-विज्ञानी की तरह, एक राजनीतिज्ञ की तरह विभिन्न विषयों की जानकारी एकत्र कर लेना, यही है हमारा सीखना। हम जानकारी इसलिए एकत्र करते हैं ताकि हम इस संसार में

एक कुशल कारीगर बन जाएं, एक कुशल चिकित्सक बन जाएं। यह ज्ञान केवल एकत्रित ज्ञान है जिसके द्वारा हम काम करते हैं—कुशल या अकुशल रूप से, सक्षम या अक्षम रूप से। तो, मिलजुल कर हम यह पता लगा रहे हैं कि ज्ञान क्या होता है, और हमारे परस्पर संबंधों में उसका क्या स्थान है। शायद हमने यह प्रश्न कभी नहीं किया है कि एक अच्छा वैज्ञानिक, चिकित्सक, इंजीनियर इत्यादि बनने के अलावा ज्ञान का हमारे जीवन में क्या काम है। यह एक बहुत गंभीर प्रश्न है—‘ज्ञान का हमारे संबंधों में क्या स्थान है, क्या काम है?’ ज्ञान हमेशा अतीत होता है। काल की गति का व्यतीत भाग ही ज्ञान में समाहित रहता है। और, यह ज्ञान चाहे वैज्ञानिक भाग का हो या मानव जीवन के भाग का, यह अनुभव पर ही आधारित रहता है। यह अनुभव हज़ारों वर्षों से एकत्रित हो या पिछले तीस वर्षों से। यह और ज्ञान एकत्र करने के लिए, और अधिक खोजबीन करने के लिए प्रयुक्त किया जाने लगता है, लेकिन हमेशा वह होता अतीत का ही ज्ञान है। इसमें कोई शक नहीं है। और, ज्ञान किसी भी बारे में हो, वह कभी पूरा नहीं होता। यह तथ्य है। इस तरह, ज्ञान हमारे मन-मस्तिष्क में स्मृति की तरह इकट्ठा कर लिया जाता है, और उसी स्मृति की अनुक्रिया का रूप ही विचार होता है। अर्थात्, वर्तमान में विरासत में मिला हुआ या स्वयं एकत्र किया गया अनुभव ही ज्ञान बन जाता है। यानी, ज्ञान स्मृति होता है, जब कि स्मृति अतीत ही होती है, और उस स्मृति की प्रतिक्रिया ही विचार होती है।

इस प्रकार, विचार हमेशा ही सीमित रहता है। मान लीजिए कि किसी ने विज्ञान संबंधी ज्ञान एकत्र किया है। उस ज्ञान में हमेशा ही कुछ न कुछ जोड़ा जाना जारी रहता है। इस प्रकार वैज्ञानिक ज्ञान कभी पूरा नहीं होता है। विचार, कुछ भी करे, वह सीमित ही रहता है। यह बात हम निरपेक्ष रूप से और निश्चित रूप से कह रहे हैं कि विचार सीमित होता है। चूंकि कोई भी ज्ञान पूर्ण नहीं होता, इसलिए ज्ञान हमेशा ही अज्ञान के साथे में रहता है। और ज्ञान से उपजा कोई भी विचार

अपरिहार्य रूप से उसका टुकड़ा होता है, सीमित होता है। विचार किसी ऐसी चीज़ की खोज कर सकता है जो असीम हो, अपरिमेय हो, पार और परे हो, लेकिन वह चीज़ भी विचार के दायरे में ही रहती है। कोई व्यक्ति ईश्वर को इजाद कर सकता है क्योंकि उसे लगता है कि उसकी सुख-सुविधा के लिए, सुरक्षा के लिए ईश्वर का होना आवश्यक है, लेकिन वह ईश्वर विचार की ही उपज होता है, अतः सर्सीम होता है। इस मुद्दे पर हमें बिल्कुल स्पष्ट हो जाना चाहिए; आपको स्वयं इस तथ्य को, इस सत्य को देख लेना चाहिए कि विचार कैसा भी हो, चाहे वैज्ञानिक का हो, चाहे महान् दार्शनिक का हो, विचार हर हाल में सीमाबद्ध होता है, संकुचित व सीमित होता है। विचार ने ही राष्ट्रीयताओं का इजाद किया है, उन्हें रचा है और इस तरह लोगों में विभाजन पैदा कर दिया है—मुसलमान, हिंदू, यहूदी, अरब, साम्यवादी, समाजवादी, पूँजीवादी इत्यादि। ये सब विचार के ही आविष्कार हैं। सारी परंपराएं विचार की उपज हैं। विचार ने ही युद्ध और द्वंद्व जैसी तमाम समस्याएं खड़ी की हैं। और फिर विचार ही इन समस्याओं का समाधान ढूँढ़ने की कोशिश करता है।

हमने देखा है कि विचार ने ही इंसानों के बीच राजनैतिक व धार्मिक स्तर पर असंख्य समस्याएं खड़ी कर दी हैं, और फिर वही कहता है ‘मैं इन्हें सुलझा दूँगा’। ऐसे समाधान से आप कुछ और समस्याएं पैदा कर रहे होते हैं। इस तरह जीवन अधिक जटिल, और अधिक समस्याओं भरा होता जा रहा है। क्यों हम ऐसा समझते हैं कि विचार ही एकमात्र औजार है, जब कि विचार तो सीमित होता है। तो, प्रश्न उठता है कि क्या कोई और उपकरण भी है? विचार की प्रकृति, विचार का स्वभाव क्या होता है? विचार एक भौतिक प्रक्रिया है क्योंकि यह मस्तिष्क की कोशिकाओं में ही बनता है, वहीं रहता है। विचार जो कुछ भी सोचता या इजाद करता है वह एक भौतिक प्रक्रिया का ही परिणाम होता है। विचार जब ईश्वर को इजाद करता है तो वह भौतिक प्रक्रिया ही तो है। विचार पवित्र नहीं होता।

अगर यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो गई हो, शब्दशः नहीं बल्कि गहन-गंभीर रूप से, तो प्रश्न आता है कि क्या कोई नया औजार भी है?—उच्चतर चेतना या निम्नतर चेतना मत कहियेगा क्योंकि वह भी विचार की ही खोज है।

हम यह खोजने जा रहे हैं कि क्या कोई ऐसा नया उपकरण है जो विचार से बिल्कुल भिन्न हो, जिसे कि विचार ने बिल्कुल भी छुआ न हो, क्योंकि विचार जिसे छू सकता है वह तो सीमित ही होगा, और सीमित होने के कारण वह निरपवाद रूप से द्वंद्व ही पैदा करेगा, विखंडन, विभाजन ही करेगा जैसा कि संसार में हो ही रहा है—धार्मिक विखंडन, राजनैतिक विखंडन, इत्यादि। अगर आप पूरी तरह गंभीर हैं, गहराई तक फ़िक्रमंद हैं, अगर आपको मानवता से गहरा प्रेम है, तो आपके अंदर जानने का, खोजने का जोश होना चाहिए, लगान और धुन होनी चाहिए। खुद को दिन-ब-दिन पतन की ओर धकेलने वाले, खुद को नष्ट करने वाले इस संसार को एक नए उपकरण की सख्त ज़रूरत है। विचार की प्रकृति पर सवाल उठाते हुए, उसे संदिग्ध समझते हुए, पूछताछ करते हुए, जांच-पड़ताल करते हुए, हम अपने लिए यह खोजने जा रहे हैं कि विचार, चाहे वह किसी भी स्तर पर हो, विखंडित व सीमित ही होता है और उसकी इस सीमितता ने ही मस्तिष्क को कंडीशंड कर दिया है। तकनीकी क्षेत्र में मस्तिष्क जो कुछ कर रहा है, उसे देखते हुए लगता है कि मस्तिष्क में तो असाधारण क्षमता विद्यमान है, लेकिन वह क्षमता केवल इस एक दिशा में ही जा रही है—वह केवल चिकित्सक, सर्जन, गणितज्ञ, कंप्यूटर विशेषज्ञ इत्यादि ही बना रही है। लेकिन मानवीय समस्याएं, यानी हमारे परस्पर टकराव, हमारे दुख, पीड़ा, विषाद, अंतहीन द्वंद्व, इन्हें तो यह तकनीकी संसार कभी सुलझा नहीं सकता। कोई राजनेता, कोई पञ्चति, कोई प्रणाली, कोई भी इस बारे में सोच ही नहीं रहा। इसलिए, एक साधारण इंसान की तरह, हमें ही यह खोजना होगा कि क्या कोई नया उपकरण है जिसे विचार ने न छुआ हो, जो समय की उपज न हो, और जो विकास की

प्रक्रिया में अर्थात् विचार की पकड़ में न आता हो।

अगर आप चाहें और अगर आप इस विषय में गंभीर हैं तो इसमें हम एक-एक कदम आगे बढ़ेंगे। लेकिन, आपके अंदर बहुत सचेतनता, अवधान, क्षमता और संवेदनशीलता होनी चाहिए; आप किसी भी वर्ग के प्रति, किसी विश्वास या किसी धर्म सिद्धांत के प्रति प्रतिबन्ध न हों। आपके पास एक ऐसा मन हो जो ‘वसुधैव कुटुंबकम्’ का भाव रखता हो, न कि वह केवल अपनी ही समस्याओं को तरजीह देने वाला एक क्षुद्र मन हो। विशाल मानवीयता में क्षुद्र मानव समस्या घुल जाती है, विलीन हो जाती है। मानव मस्तिष्क, मन और बुद्धि की विशाल जटिलता को समझे बिना, आप कोई भी समस्या सुलझा नहीं सकेंगे। इसलिए, इस वक्ता की बातों का उल्लेख करने की बजाय आप अपना ध्यान और तवज्ज्ञो खुद की खोज पर रखिए। इस वक्ता का कोई महत्व नहीं है, वह तो टेलीफोन की तरह है, इसलिए महत्व इस बात का है कि वह कह क्या रहा है। इसलिए खोजिए।

क्या आपने निःशब्द रहते हुए कभी स्वयं का, अपनी पत्नी का, सड़क के उस तरफ के पेड़ का, इधर-उधर टहलते किसी पशु का अवलोकन किया है? क्या आपने यह आज़माइश की है कि कभी किसी पेड़ को कोई नाम दिए बगैर देखा जाए, किसी भी तरह की पिछली बातों को उसके साथ जोड़े बिना उसे देखा जाए, उसे आपने केवल देखा हो, उसका केवल अवलोकन किया हो, निःशब्द? कभी आपने ऐसा किया है? क्या आपने इसी तरह अपनी पत्नी को या अपने पति को या राजनेताओं को देखा है? क्या आपने कभी उन्हें किसी बात का प्रतीक बनाए बगैर देखा है? क्या आप वक्ता को निःशब्द रहते हुए देख सकते हैं, उसकी प्रतिष्ठा और अन्य तमाम बेकार की बातों को मन में लाए बिना क्या आप उसे देख सकते हैं, जो कि आपने अपने मन में उसके लिए बना ली है? इस वक्ता को इस तरह देख पाना

शायद आसान हो, क्योंकि न तो आप उसे जानते हैं और न ही वह आपको जानता है। लेकिन, अपनी पत्नी को, या अपने पति को इस तरह से देखना बहुत अधिक मुश्किल होता है। क्या आप किसी पशु को बिना कोई तस्वीर या छवि बनाए देख सकते हैं, निःशब्द? सबसे पहले तो आप यह बात जानिए कि क्या आप कोई भी शब्द मन में लाए बिना, कोई भी छवि या तस्वीर बनाए बिना किसी को देख सकते हैं, अवलोकन कर सकते हैं, ध्यान दे सकते हैं, क्योंकि ऐसा कर पाने पर ही अपनी संवेदनशीलता को आप जगा सकते हैं। आप धूल के प्रति, उस शोर मचाते व्यक्ति के प्रति, दुख-दुर्दशा के प्रति, गरीबी के प्रति बिल्कुल संवेदनशील नहीं हैं, आपने तो बस उन्हें स्वीकार कर लिया है। जब तक कि आप राष्ट्रवाद को पूरी तरह छोड़ नहीं देते तब तक इस देश की गरीबी का निवारण नहीं किया जा सकता, कभी नहीं किया जा सकता। गरीबी का निवारण केवल तभी हो सकेगा जब आप विश्व भर में इंसान से इंसान के रिश्ते को समझ लेंगे। फिर कोई सीमा-सरहद नहीं रहेंगी। यही बात शायद आप नहीं समझे हैं। इसलिए, मेरा मानना है कि किसी भी जिज्ञासा में, किसी भी विवेचन या पढ़ताल में हमारा अत्यंत संवेदनशील होना पहली अनिवार्य आवश्यकता होती है। सभी धर्मों में कहा गया है : अपनी इंद्रियों को वश में रखो, अपनी भावनाओं का दमन करो, और इसीलिए आपकी ज्ञानेंद्रियों की, संज्ञाओं की संवेदनशीलता मंद-कुंद होती चली गई है। यह वक्ता उससे उलट बात कह रहा है : ‘अपनी ज्ञानेंद्रियों को, अपनी संज्ञाओं व अनुभूतियों को उनकी अधिकतम सीमा तक जगाएं ताकि आप इस संसार को अपनी संपूर्ण संज्ञा व अनुभूति के साथ देख सकें।’ जब आपकी सारी ज्ञानेंद्रियां पूरी तरह जाग जायेंगी, सजग हो जायेंगी और तब आप उस असीम अनुभूति के साथ इस संसार को देख सकेंगे। इस देखने में अत्यधिक व असाधारण ऊर्जा होती है, सौंदर्य होता है। अन्य साधन की पड़ताल में हमने पाया है कि पहली बात तो यह है कि आदमी एक ही बात को दोहराते रहने

के कारण, परंपराओं के कारण और वातावरण के उत्पीड़न के कारण मतिमंद, उत्साहहीन व संवेदनारहित हो गया है—वातावरण से यहां तात्पर्य केवल प्राकृतिक पर्यावरण से नहीं है, बल्कि ये राजनेता, ये गुरु, और जो कुछ आपके चारों ओर हो रहा है, उन सब से है। धीरे-धीरे आप तमाम संवेदना खोते जा रहे हैं, रचनात्मक ऊर्जा खोते जा रहे हैं; किंतु यहां हम रचनात्मकता की बात जिस अर्थ में कर रहे हैं वह है कोई ऐसी बात करना जो कि बिल्कुल नयी हो, कोरी हो, लेकिन ऐसी क्षमता के लिए, ऐसी उत्प्रेरणा के लिए, ऐसी विशेषता के लिए, हममें अत्यधिक संवेदना होनी चाहिए। अगर आपकी हर इंद्रिय पूरी तरह से सजग नहीं है, पूरी तरह से सक्रिय नहीं है, तो आपमें ऐसी अत्यधिक संवेदनशीलता नहीं हो सकती।

तो, हमने खुद को तबाह क्यों कर लिया है? सभी धर्मों ने, इस देश के धर्मग्रंथों ने, धर्मगुरुओं ने और ईसाई धर्म ने भी कहा है, ‘मनोकामना का दमन करो, अपनी मनोभावना का दमन करो, स्त्री को मत देखो, आत्मनियंत्रण व आत्मपीड़न करो; केवल तभी आपको ईश्वर की प्राप्ति होगी, केवल तभी आपको निर्वाण, मोक्ष और जो भी आप चाहें वह प्राप्त हो सकता है, केवल तभी आप प्रदीप्त व प्रबुद्ध हो सकते हैं।’ ये सब बेकार की बातें हैं। इस अद्भुत और आश्चर्यजनक उपकरण को—अपने शरीर को, जिसमें कि इतनी संवेदनाएं हैं, अनुभूतियां हैं, बोध है, भाव है, सौंदर्य है—इसे भला क्यों और कैसे आप बरबाद कर सकते हैं? यह एक अनोखा और असाधारण उपकरण है। वे लोग कहते हैं, “‘इच्छा का दमन करो, इच्छा के आगे झुको मत।’ इसलिए, हमें इच्छा की प्रकृति को समझ लेना चाहिए। किसी नए उपकरण के विवेचन में, छानबीन करने में, पहले यह समझना बहुत आवश्यक है कि यह पुराना उपकरण—यानी विचार—किसी भी मानवीय समस्या को सुलझा नहीं पाया है। उस सब की विवेचना, छानबीन करते-करते अब हम इस इच्छा की विवेचना करने जा रहे हैं। इच्छा होती क्या है? लोगों ने ऐसा क्यों कहा है कि इसका गला

घोंट दो, इसका परित्याग कर दो। अगर आप इसे किसी बड़ी चीज़ के साथ नहीं जोड़ देते हैं, उसके साथ इसे एकाकार नहीं कर देते हैं तो यह हमेशा ही संघर्ष की एक समस्या बन जाती है। दमन करने का, बच कर रहने का, पलायन करने का और इसी तरह की बातों का हम कोई समर्थन नहीं कर रहे हैं। बल्कि, हम इच्छा की प्रकृति का, उसके स्वभाव का विवेचन कर रहे हैं कि इच्छा उत्पन्न कैसे होती है, सक्रिय कैसे होती है, क्यों हम इसकी गिरफ्त में आ जाते हैं, यह अजब ढंग से इतनी प्रबल कैसे बन गई है।

इच्छा होती क्या है? आप मन को भाने वाली कोई चीज देखते हैं, कोई सुंदर, आकर्षक चीज़ देखते हैं—कोई स्त्री या कोई पुरुष। आप उस चीज को या उस स्त्री को या उस पुरुष को चाहने लगते हैं। यही होता है। आप कोई बढ़िया सी कार को देखते हैं, पॉलिश की हुई, बढ़िया लाइटें, दमदार कार, और फिर आप उसे छूते हैं, उसमें बैठ कर देखते हैं, अगर आप उसे खरीदने की हैसियत रखते हैं तो उसका मालिक होने की सुखद अनुभूति करने लगते हैं। और लीजिए, इच्छा हाजिर है। तो, क्या उस चीज ने इच्छा को रचा, या इच्छा उस चीज के बिना भी मौजूद थी, यानी कोई चीज, कोई कार इच्छा को रचती है, या इच्छा तो मौजूद ही रहा करती है और इच्छित चीजें ही बदलती रहती हैं? हम इच्छा की जाने वाली चीजों पर विचार-विमर्श नहीं कर रहे हैं—जैसे शक्ति व अधिकार संपन्न मंत्री या प्रधान मंत्री बनना, राज्यपाल या एज़िक्युटिव बनना या सिद्ध-प्रसिद्ध वॉयलिन वादक बनना—बल्कि हम तो इच्छा की ही मूलभूत संरचना और स्वभाव के बारे में पड़ताल कर रहे हैं। अगर इसे हम समझ जाते हैं—शब्दशः नहीं बल्कि यथार्थतः—तो फिर इसका दमन करने की, इसका नियंत्रण करने की कभी कोई आवश्यकता ही नहीं रह जायेगी। हमने हमेशा ही इसका नियंत्रण किया है, यह समझे-बूझे बिना कि नियंत्रण कर कौन रहा है। हमने अपनी इच्छा को, सेक्स को सदा नियंत्रित ही किया है, हमारा लालन-पालन नियंत्रण करना

ही सिखाता आया है। लेकिन यहां हम इच्छा को समझने की, खोजबीन करने की, जांच-परख करने की कोशिश कर रहे हैं, न कि उसे नियंत्रित करने की। अगर यह बात स्पष्ट हो गई है तो फिर हम साथ-साथ आगे बढ़ सकते हैं—इच्छा के सत्य को समझने के लिए, यह जानने के लिए कि हमारे जीवन में इसका स्थान क्या है या यह कि इसका हमारे जीवन में कोई स्थान है भी या नहीं। हमें किसी निष्कर्ष से आरंभ नहीं करना चाहिए, जैसे कि इच्छा को दबाओ या इच्छा को खुली छूट दे दो। बल्कि, हमें आहिस्ता-आहिस्ता, रुकते-समझते हुए, इस इच्छा का मर्म-अन्वेषण करते हुए आगे बढ़ना होगा जो कि हमारे जीवन का एक बड़ा कारक बन गई है, और एक यातना का कारक भी।

इच्छा का मूल स्थान क्या है, उसका स्रोत क्या है? इच्छा की पूरी गति व गमन को जानने-समझने के लिए इसमें गहरे उत्तरिए, इसके निहितार्थों को देखिए, इसकी गहराई देखिए, इसकी हकीकत देखिए। अगर आपमें कोई चेतना नहीं है, संज्ञा नहीं है तो आपको कोई मनोवेग, कोई सनसनाहट भी नहीं होगी। जब आप कोई चीज़ किसी दुकान की खिड़की में सजी हुई देखते हैं, कोई कमीज़, कोई रेडियो, या आपकी पसंद की कोई और चीज़। आप उसे देखते हैं—यह दृश्य-अनुभूति है। फिर आप उस दुकान के अंदर जाते हैं, उस कमीज़ को छू कर देखते हैं, उसे छूने से होने वाली सनसनाहट को महसूस करते हैं। यह सीधी-सरल बात है। आप कार को देखते हैं, उसे छूते हैं, उसकी लाइटें, उसकी पॉलिश—भारत की कारों की अपेक्षा कुछ यूरोपियन कारें बहुत ही सुंदर होती हैं। हवाई जहाज की तरह; वे भी बहुत सुंदर होते हैं। तो आप उसे छूते हैं, उस कमीज़ को जो कि आपने बाहर से खिड़की में टंगी देखी है, नीली कमीज़, और उसे छूने से आप कुछ अनुभूत करते हैं—एक सनसनाहट। फिर क्या होता है? तब, अगर आप ध्यान दें तो आप पायेंगे कि विचार बोलता है, ‘अगर यह कमीज़ मैं पहनूंगा तो यह मुझ पर कितनी जंचेगी,’ या ‘उस कार में बैठा

मैं कितना जचूंगा।’ इस तरह, ज्यों ही विचार उस सनसनाहट में से कोई छवि बना कर प्रस्तुत कर देता है, वहीं इच्छा का उदय हो जाता है।

आप कोई सुंदर पेड़ देखते हैं, जो कि आदमी ने बनाया नहीं होता है। आदमी ने तो ये चर्च बनाए हैं, मस्जिदें और मंदिर बनाए हैं, उनके अंदर रखा तमाम तामझाम बनाया है, लेकिन उसने पेड़ नहीं बनाए हैं। आदमी ने प्रकृति को नहीं रचा है, बल्कि उसने तो प्रकृति का विनाश किया है। तो, आप उस खूबसूरत पेड़ को देखते हैं। आपकी तमन्ना होती है कि वह आपके बग़ीचे में हो। आप उसे इसी नज़रिए से देख रहे होते हैं। उस गर्व-अनुभूति की, उसकी छाया की, उसकी पत्तियों पर नृत्य करती प्रकाश की सनसनाहट आप में व्याप्त हो जाती है। उस सनसनाहट के पीछे-पीछे विचार भी चला आता है जो कहता है, ‘अगर यह पेड़ मेरे बग़ीचे में होता तो कितना अच्छा होता।’ ज्यों ही वह विचार उस पेड़ के आपके बग़ीचे में होने की छवि आपके मन में रच देता है, त्यों ही इच्छा उत्पन्न हो जाती है। संवेदनशील होना, संवेद रखना—यह स्वाभाविक है, यह तथ्य है। अन्यथा तो आप गतिहीन हो जायेंगे, अकर्मण्य हो जायेंगे। संवेद तो आपमें होना ही चाहिए, सूक्ष्मग्रहिता तो आपमें होनी ही चाहिए—आपकी आंखों में, आपके सुनने में, देखने में वह होनी चाहिए। आप देखने में, ध्यानपूर्वक देखने में संवेदनशील रहें—उस देखने में, ध्यानपूर्वक देखने में, अवलोकन करने में, संवेद का उदय होना ही है। संवेद को उभरना ही चाहिए, अन्यथा तो आप अंधे और बहरे जैसे हो जायेंगे। यह संवेद, यह सनसनाहट जब होती है तब विचार एक छवि रच कर ले आता है, और उसी पल इच्छा उत्पन्न हो जाती है। क्या ऐसा होता हुआ आपने देखा है? या आप उसी बात को दोहरा रहे हैं जो यह वक्ता बोल रहा है, या आप अपनी परिपाटियों में लौट जाते हैं और कहते हैं कि हमें अपनी इच्छाओं का दमन करना चाहिए या यह कह देते हैं कि जो कुछ आप बोल रहे हैं

वे सब बेकार की बातें हैं? अगर आप इच्छा की समस्या में वाकई गहरे उतरते हैं, क्योंकि यह बहुत ही महत्वपूर्ण विषय है, तब आप स्वयं ही इच्छा के उद्भव को, उसके आरंभ को ढूँढ़ लेंगे। तो, मुद्दा है किसी कार को, किसी कमीज़ को, किसी स्त्री को, किसी तस्वीर को देखना और तब एक संवेद, एक सनसनाहट का उठना। यह जानने का प्रयास कीजिए कि क्या ऐसा हो सकता है कि आप कुछ देखें और विचार सोया ही रहे, वह हाथों-हाथ कोई छवि तैयार करके आपको पेश न करे—आपकी कमीज़ पहने हुए, उस कार में बैठे हुए, इत्यादि प्रकार की छवि वह पेश न करे? क्या उस सनसनाहट और विचार के बीच एक फ़ासला रहना संभव है ताकि वह विचार उस सनसनाहट का अतिक्रमण न करे? खोज कर देखिए। यह आपके मन-मस्तिष्क को सचेत व चौकस रखेगा।

इसके अलावा, एक नए उपकरण की छानबीन करते हुए हमें यह भी पता लगाना होगा कि क्या मनुष्य कभी भय से मुक्त भी हो सकता है। हम किसी न किसी चीज़ के कारण भयाक्रांत रहा करते हैं—चाहे वह अतीत की हो, भविष्य की हो, या वर्तमान की हो, चाहे वह फिलहाल चल रही किसी गतिविधि की अनिश्चितता हो, या वर्तमान की किसी प्रक्रिया की अनिश्चितता हो। हममें यह भय हमेशा रहा करता है। मनुष्य यह समस्या कभी सुलझा नहीं पाया है, बल्कि वह इससे बच कर दूर भागता रहा है। उसने इसे दबाने के, इसे नकारने के, इससे पलायन करने के कई तरीके ढूँढ़ लिए हैं, लेकिन कभी इसका समाधान नहीं ढूँढ़ा है। जब भय होता है तब भयानक और पीड़ादायी कार्यकलाप होते हैं, हर तरह के अनुचित कर्म होते हैं। जब भय का वास्तविक खतरा सामने दिखता है तब आपका सारा तन, सारा मन संकुचित हो जाता है, वह कतराता है, बचता है। यह एक ऐसी समस्या है जिसे हमें सुलझाना ही चाहिए, सिद्धांत रूप में नहीं बल्कि वास्तविक रूप में, व्यावहारिक रूप में, लेकिन इससे हमें मुक्त हो जाना चाहिए। क्या यह संभव है?

भय का कारण क्या होता है? जहां कोई कारण होता है तो वहां उसका निवारण भी होता है। यह स्वाभाविक है, तर्कसंगत है। मुझे दर्द है, तो इसका कारण कैसर हो सकता है। अगर मैं कारण ढूँढ़ लेता हूँ तो दर्द का अंत हो ही जायेगा, या वह अंत के निकट पहुंच ही जायेगा। कारणों की खोजबीन हम लक्षणों के आधार पर किया करते हैं। यहां हम मिल बैठ कर भय के लक्षणों को नहीं खोज रहे हैं—जैसे अधेरे से डरना, अपने माता-पिता या दादा-दादी से डरना, अपने पति या पत्नी से डरना, राजनेताओं से डरना, इत्यादि। ये सब तो लक्षण मात्र हैं। बल्कि, हम तो यह पूछ रहे हैं कि भय का मूल कारण क्या है। यह ऐसा ही है जैसे किसी पेड़ को काट कर उसकी बिल्कुल जड़ में जाना। हम उस जड़ को ही देखने जा रहे हैं।

पहले तो, हमारा प्रश्न यह है कि क्या समय भय का कारण है? इसे सावधानीपूर्वक देखें। क्या भय का एक बड़ा कारण समय है? समय यानी आने वाला कल—कल क्या होगा, और बीता हुआ कल—जो कल हुआ या बीते हज़ारों कलों में जो हुआ, और अब क्या हो सकता है? आप मेरा प्रश्न समझ रहे हैं न? क्या समय भय के कारकों में से एक है? हो सकता है कि गत सप्ताह मैंने कुछ ग़्लत कर दिया था, और जो मैंने किया था उससे तकलीफ हुई, लेकिन मैं आशा करता हूँ कि ऐसा दोबारा नहीं होगा। यानी, ‘आशा’ शब्द में भविष्य निहित रहता है। आप समझ रहे हैं न? एक समय तो वह होता है जो घड़ी के अनुसार होता है, सूर्योदय और सूर्यास्त के साथ चला करता है, बीते कल के रूप में समय होता है, आज और आने वाले कल के रूप में समय होता है; एक समय बीते कल की यादों के रूप में, अनुभवों के रूप में होता है, वर्मान में खुद को सुधारते हुए और भविष्य की तरफ बढ़ने के रूप में होता है। यह सब समय है। भौतिक समय, यानी एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुंचने के फ़ासले को पूरा करना, यहां से घर जाना, इसमें भी समय लगता है। एक तथाकथित मनोवैज्ञानिक समय भी होता है, आपके भीतर बैठा समय। यानी, ‘मैं आशा करता

हूं कि इस साल के अंत तक मुझे कोई बढ़िया नौकरी मिल जायेगी। मुझे आशा है कि मैं बेहतर हो जाऊंगा, श्रेष्ठतर हो जाऊंगा, इत्यादि; मुझे आशा है कि कल मुझे कोई बढ़िया आदमी मिल ही जायेगा।’ इस तरह, ‘आशा’ में ‘उम्मीद’ में समय निहित रहता है, शामिल रहता है। और दूसरी धारणा है बेहतर होने की, मैं ऐसा हूं लेकिन मैं बेहतर हो जाऊंगा; मैं हिंसक हूं, लेकिन मैं अहिंसक हो जाऊंगा। ‘जो है’ और उसे किसी और रूप में बदलने की यह प्रक्रिया समय की ही प्रक्रिया है। इस तरह, समय भय का एक कारक बन जाता है। मैं जीवित हूं, मुझ में भरपूर शक्ति है, लेकिन कोई बात, कोई दुर्घटना मुझे मार सकती है। मुझे ख़बरदार किया गया है कि मौत कभी भी आ सकती है। इसलिए समय का, एक अंतराल का आभास हमेशा रहा करता है। उस अंतराल को एक बेहतर स्वरूप का, एक आशा का, आत्मविकास इत्यादि का रूप दे दिया जाता है। मैं उसे पूरा करना चाहता हूं, भले ही मैं उसे पूरा न कर सकूं। मैं किसी नौकरी के लिए आवेदन देता हूं, भले ही मुझमें उसे करने की योग्यता न हो। इसलिए डर पैदा होता है। समय भय का एक कारक होता है।

हम यह नहीं कह रहे हैं कि समय को किस तरह एक तरफ उठा कर रख दिया जाए। हम तो भय के स्वभाव की छानबीन कर रहे हैं। तो, क्या विचार, विचार की प्रक्रिया, भय का एक और कारक नहीं है? इस बात को ध्यान से देखिए। मुझे लगता है कि मैं मर जाऊंगा। मैं सोचता हूं कि ईश्वर है, लेकिन आप आते हैं और मेरे इस विश्वास को झकझोर डालते हैं और मैं डरने लगता हूं। तो, किसी विगत घटना के बारे में सोचना, यह सोचना कि वह दुख दोबारा नहीं होगा, ऐसा सोचना और चाहना कि ऐसा दोबारा नहीं होगा, यह सब विचार की ही हरकत है। इस तरह, समय और विचार, ये दोनों ही भय का मूल कारण हैं। भौतिक समय—यानी यहां से अपने घर तक पहुंचने का समय—उसे तो आप ख़त्म नहीं कर सकते। कोई भाषा सीखने के लिए, कोई तकनीक सीखने के लिए, समय

लगता है। हमने देखा है कि विचार की ही तरह समय भी भय का मूल कारक होता है। यानी, विचार एक चलायमानता है। है न? और, समय भी एक चलायमानता है। तो क्या वास्तव में, यथार्थ में, कोई मनोवैज्ञानिक समय होता भी है? क्या आप मेरा प्रश्न समझें? समय की समस्या बहुत महत्वपूर्ण है, उतनी ही जितनी कि विचार की समस्या है। हम समय से ही तो रहते-सहते हैं। हमारा सारा ज्ञान समय पर ही आधारित है—कुछ बनने की जद्गाह, कम हिंसक बनने की कवायद—ये सब पैमाने ही तो हैं। मैं दुखी हूँ, अप्रसन्न हूँ, हिंसक हूँ, अकेला हूँ, अवसादग्रस्त हूँ, व्यग्र हूँ। यह तो वह है ‘जो है’। यह एक तथ्य है। फिर आता है एक विचार—‘मुझे ‘जो है’ से कुछ और हो जाना चाहिए’। यह होना समय है, वैसे ही जैसे एक बाबू से प्रबंधक होने में समय लगता है। सोचने की इसी प्रक्रिया को हम अपने मन-मानस तक ले आए हैं, विचारतंत्र के क्षेत्र तक ले आए हैं। यानी, ‘मैं हिंसक हूँ, लेकिन मैं अहिंसक बन जाऊंगा’, अर्थात् आप समय को बीच में आने का, हस्तक्षेप करने का मौका दे रहे हैं। लेकिन जब आप कहते हैं, ‘मैं हिंसक हूँ, मैं इसे समझने जा रहा हूँ, इसे स्पष्ट देखने, इसे ध्यान से देखने, तेज़ी से इसमें उतरने, गहरे उतरने जा रहा हूँ’, तब बीच में समय नहीं आ पाता है। लेकिन अगर आप किसी और तरह से कोशिश करते हैं तो वह बीच में आता ही है।

कुछ बनना, जो कि मापा जा सकता हो, उसमें समय की आवश्यकता पड़ती है। उदाहरण के लिए, अगर आप अपनी तुलना किसी अधिक प्रबुद्ध, अधिक तीव्र बुद्धिमान, या अधिक सुंदर व्यक्ति से करते हैं, तो यह तुलना नाप-तौल जैसी होती है। लेकिन, अगर आप अपनी तुलना किसी से नहीं करते, अपने देवताओं, संतों और गुरुओं से भी नहीं, तब क्या होता है? आप वही रहते हैं जो आप हैं।

आप जहां हैं वहीं से शुरू करें, लेकिन जब आप तुलना कर रहे होते हैं तब आप स्वयं को नहीं समझ सकते, जो आप हैं।

इसलिए बनना समय है, जो कि अ-तथ्य है। यानी, जब मैं कहता हूं, ‘मैं हिंसक हूं, मुझे अहिंसक बनना चाहिए’, तब वह अहिंसा कोई तथ्य नहीं है, वास्तविकता नहीं है। इस देश में आप अहिंसा पर ढेर सारी बातें करते रहिए, लेकिन अहिंसा का कोई अस्तित्व नहीं है। जिसका अस्तित्व है, वह हिंसा है। अगर आप अहिंसा को भूल जाएं तो आप हिंसा की रोकथाम कर सकते हैं, उसे सुलझा सकते हैं, इस बात में गहरे उत्तरिए। हिंसा को समझने में या तो लंबा समय लगता है या यह अविलंब होता है। हिंसा के लिए आपके द्वारा की जाने वाली छानबीन या तो बहुत लंबा समय ले सकती है, क्योंकि आप सुस्त व अलसाए रहते हैं या कह देते हैं, ‘मैं कल इसकी पड़ताल करूंगा, यह कोई महत्वपूर्ण तो है नहीं’, इत्यादि। लेकिन जो व्यक्ति हिंसा से चिंतित है जो कि सारे विश्व में फैलती जा रही है, मानवता का विनाश कर रही है, वह हिंसा को गहराई तक समझ लेना चाहता है तो वह उसे अविलंब समझ भी लेगा। जहां कुछ बनने की बात आती है वहां आपमें मनोवैज्ञानिक समय होगा ही। यह बनना भ्रम है, भ्रांति है। तथ्य वह है जो है, जो आप इस पल में हैं—आपका क्रोध, आपकी प्रतिक्रिया, आपके भय—यही तो हैं आप। इन्हें देखिए। ये ही भय के मुख्य कारक हैं, और विचार भी। भौतिक समय को तो आप रोक नहीं सकते, लेकिन जब आप अपने भीतर समय के स्वभाव को समझना शुरू करते हैं, बनने को और होने को समझना शुरू करते हैं और विचार की पूरी गतिविधि को समझ लेते हैं, न कि उसे दबाते हैं, न कि उसे नकारते हैं, न ही यह कहते हैं कि मैं विचार को नियंत्रित कैसे करूं, तब वह नियंत्रक कौन होता है? वह नियंत्रक विचार का ही दूसरा भाग होता है।

अगर आप सचमुच और गहराई से भय के स्वभाव के बारे में और मनोवैज्ञानिक भय को पूरी तरह से ख़त्म कर देने से सरोकार रखते हैं तो आपको समय के बारे में गहराई तक जाना होगा, और विचार के स्वभाव तथा उसकी संरचना के बारे में भी। लेकिन अगर आप यह कहते हैं, ‘कृपया मुझे भय

से पीछा छुड़ने का कोई तरीका बताएं’, तो आप एक बहुत ही गलत सवाल कर रहे हैं क्योंकि यह सवाल ही यह बता रहा है कि आपने भय को समझा नहीं है, आपने स्वयं को देखा-निरखा नहीं है। मृत्यु, द्वंद्व, टकराव, पीड़ा, दुख, सुख, भय, ध्यान—यही सब तो है हमारा जीवन, और इस सब को समझने के लिए हममें होनी चाहिए जीवंतता और शक्ति; और यह शक्ति तब आपको नहीं मिल सकती जब आप शब्दों को बस दोहरा रहे हों, जब आप किसी विश्वास से चिपके हुए हों, जब आप किसी निर्णय-निष्कर्ष पर पहुंच चुके हों, क्योंकि ये सब बातें तो सारी शक्ति को नष्ट कर देने वाली होती हैं। शक्ति में स्वतंत्रता निहित रहती है, वह वाली स्वतंत्रता नहीं कि आप जो चाहे वह करें, बल्कि स्पष्टता वाली स्वतंत्रता। केवल ऐसी स्वतंत्रता में ही आपमें अद्भुत व असाधारण शक्ति आ जाती है।

— जे कृष्णमूर्ति, माइंड विदाउट मेज़र, कोलकाता,
दूसरी सार्वजनिक वार्ता, 21 नवम्बर, 1982

अनुवाद : अचलेश शर्मा



क्षषण भ्रमज्ञ जनकी है

कृष्णमूर्ति : जब हम किसी समस्या या मामले की पड़ताल करें तो हमें उसकी जांच पूरी तरह से, उसकी सम्पूर्णता में करनी चाहिए। एक बार में एक चीज को लें, अस्पष्ट रूप से कई चीजों के बारे में बात न करें। इसलिए मुझे लगता है कि हम किसी एक वास्तविक मानवीय समस्या को उठा सकें और उसके बारे में पूरी तरह से और गम्भीरता के साथ बात कर सकें तो ठीक रहेगा। तो अब हम किस बारे में बात करें?

प्रश्नकर्ता (1) : शिक्षा। प्रश्नकर्ता (2) : सजगता की कमी। प्रश्नकर्ता (3) : प्रेम। प्रश्नकर्ता (4) : सर, कभी-कभी, तंत्रिकाओं के थक जाने के कारण लगता है कि मन अपनी संवेदनशीलता खो देता है। मैं जानना चाह रहा था कि क्या हम ऐसी परिस्थिति से निवटने के लिए कुछ कर सकते हैं।

कृष्णमूर्ति : क्या हम हिंसा जैसी किसी समस्या को उठा सकते हैं। मुझे लगता है कि यह पूरी दुनिया में फैली हुई है। क्या हम इसके गहरे निहितार्थ देख सकते हैं, और क्या इंसान का मन सामाजिक और अंदरूनी समस्याओं को वाकई बिना किसी हिंसा के हल कर सकता है?

हम देखते हैं कि दुनिया के हर हिस्से में सामाजिक ढांचा बदलने के लिए विद्रोह और क्रांतियां हो रही हैं। स्पष्ट है कि ढांचे को बदलना ही पड़ेगा। क्या इसे हिंसा के बगैर बदलना संभव है? क्योंकि हिंसा, हिंसा को ही जन्म देती है। विद्रोह से एक दल के पास सरकार चलाने की ताकत आ जाती है और उसे पाने के बाद वह हिंसा के द्वारा अपने को सत्ता में बनाए रखता है।

यह बिलकुल साफ है कि पूरी दुनिया में यही हो रहा है। हम यह पूछ रहे हैं कि क्या दुनिया में और अपने आप में बदलाव करने का कोई ऐसा तरीका है जिससे हिंसा न पैदा होती हो। मैं सोचता हूं कि यह हममें से हरेक के लिए एक गंभीर समस्या होनी चाहिए। क्या आप इस पर चर्चा करना चाहेंगे। आप क्या कहते हैं?

प्रश्नकर्ता : हाँ, हम हिंसा पर चर्चा करते हैं।

कृष्णमूर्ति : लेकिन हम इसकी वाकई में गहरी पड़ताल करेंगे, सिर्फ ऊपरी तौर पर नहीं, क्योंकि इस पर बातचीत करते हुए हमें यह बात दिमाग में रखनी है कि इससे हमारे जीने के तरीके में बदलाव आना ही चाहिए। मुझे नहीं पता आप इसकी गहराई से पड़ताल करना चाहते हैं या नहीं। मेरा सवाल है, क्या बाहरी संसार, सामाजिक ढांचा, अन्याय, विभाजन, भयंकर क्रूरता, युद्ध, विद्रोह वगैरह सब कुछ और साथ ही हमेशा चल रहे भीतरी संघर्ष को भी बदला जा सकता है या नहीं।

विना हिंसा के, बिना द्वंद्व के, बिना विरोध के, बिना एक दल के खिलाफ दूसरा दल बनाए, सिर्फ बाहरी ही नहीं बल्कि भीतरी द्वंद्व के बगैर भी क्या यह सब बदला जा सकता है? यह बात दिमाग में रखते हुए कि विभाजन द्वंद्व और हिंसा की जड़ में है, हम यह अंदरूनी और बाहरी बदलाव कैसे ला सकते हैं? मेरे विचार से यह सबसे महत्वपूर्ण मुद्दा है जिसका हम सामना कर रहे हैं। आप क्या कहते हैं, सर? हम इस पर कैसे चर्चा करें?

प्रश्नकर्ता : क्या हम छोटे बच्चे में हिंसा से शुरू करें?

कृष्णमूर्ति : क्या हम बच्चों के साथ शुरू करें? विद्यार्थियों से, या शिक्षक के साथ जो कि हम हैं? आइए मिलजुल कर इस पर बात करें, ऐसा न हो कि सिर्फ मैं ही बात करता रहूँ।

प्रश्नकर्ता (1) : हमें शिक्षक के साथ शुरू करना चाहिए।

प्रश्नकर्ता (2) : खुद से। मैं खुद में रोज हिंसा देखता हूँ।

कृष्णमूर्ति : आप समस्या का समाधान कहां से शुरू करेंगे? दुनिया के हर हिस्से में विद्रोह हो रहे हैं, यहां तक कि रस से भी जहां कुछ बौद्धिक और लेखक तानाशाही के खिलाफ विद्रोह कर रहे हैं। वे स्वतंत्रता चाहते हैं, वे युद्धों को रोकना चाहते हैं। आप इस समस्या के साथ कहां से शुरू करेंगे। वियतनाम में युद्ध रोकने से या मध्य पूर्व से? हम इस समस्या को कहां से समझना शुरू करें? परिधि से या केंद्र से?

प्रश्नकर्ता : अपने आप से, अपने जीवन से।

कृष्णमूर्ति : आप कहां से शुरू करेंगे? खुद से, अपने खुद के घर से या वहां बाहर से?

प्रश्नकर्ता : दोनों जगह से क्यों नहीं? यदि हम कोई ऊपरी बदलाव लाते हैं तो वह कुछ सतही समस्याओं का समाधान कर सकता है। मुझे इसके न होने का कोई कारण नहीं दिखता, और साथ में व्यक्तिगत खोजबीन भी होनी चाहिए?

कृष्णमूर्ति : क्या हमें बस सतही सुधारों से होने वाले ऊपरी बदलावों की फ़िक्र है? और इसलिए—जो शायद ज़रूरी है—अपनी पूरी ऊर्जा, विचार, स्नेह और परवाह बाहरी, सतही सुधारों में लगायी जाए? या हम बिलकुल अलग स्तर पर ही शुरू करें? न कि इसके विपरीत।

प्रश्नकर्ता : क्या यह दोनों अलग हैं?

कृष्णमूर्ति : मैंने नहीं कहा कि दोनों अलग हैं। मैंने कहा कि वे विपरीत नहीं हैं।

प्रश्नकर्ता : मैं इसे एक चीज या दूसरी कोई चीज की तरह नहीं देखता। हम साफ़ देख सकते हैं कि कोई भी किसी सतही काम

से हजारों लोगों का जीवन बचा सकता है। मैं इसमें कोई विरोधाभास नहीं देखता।

कृष्णमूर्ति : मैं सहमत हूं। बहुत से लोग हैं, हजारों लोग हैं, जो सतही गतिविधियों में लगे हुए हैं! क्या हम उसे हटा कर सिर्फ खुद की, अपने घर की फिक्र करते हैं या अपने घर की फिक्र में ही दूसरा भी शामिल है? यह किसी एक को हटाना, उसका विरोध करना या किसी एक की उपेक्षा करना और दूसरे पर जोर देना नहीं है।

प्रश्नकर्ता : सर, मैं इस बात पर अङ नहीं रहा लेकिन ऐसा लगता है कई बार ऐसे लोग आपको सुनते हैं जिनमें मैं भी शामिल हूं—जो यह सोचते हैं कि सामने खड़ी समस्या को हल करने के लिए राजनैतिक कदमों वगैरह को परे रख कर व्यक्तिगत खोजबीन बहुत ज्यादा जरूरी है; क्योंकि उससे कुछ खास तरह के मामले हल तो हो सकते हैं, भले ही बुनियादी मामले हल नहीं होते। लेकिन मैं इसका कोई कारण नहीं देखता कि दोनों साथ-साथ क्यों नहीं चल सकते।

कृष्णमूर्ति : मैं पूरी तरह सहमत हूं, सर। क्या हम बुनियादी मामलों के साथ निबटते हैं?

प्रश्नकर्ता : यह साफ तौर पर जरूरी चीज है।

कृष्णमूर्ति : हम कहां से शुरू करें? बुनियादी मामला क्या है?

प्रश्नकर्ता : समूह व्यक्ति का ही विस्तार है।

कृष्णमूर्ति : यह बिलकुल स्पष्ट है, या नहीं है? हम बदलाव चाहते हैं, बाहरी और अंदरुनी दोनों, ऊपरी तौर पर भी और गहराई से भी।

हम किसी को बाहर नहीं रखते। बिना किसी विभाजन के देखें तो बुनियादी मुद्दा क्या है? हम इसके साथ कैसे निबटेंगे? हम इसे पूरी ताकत के साथ कहां से शुरू करेंगे?

प्रश्नकर्ता : हिंसा का कारण क्या है?

कृष्णमूर्ति : क्या हम इस पर चर्चा करें?

प्रश्नकर्ता : हम बदलना क्यों चाहते हैं?

कृष्णमूर्ति: यह भी एक अच्छा सवाल है। हमें बदलना चाहिए ही क्यों?

अन्य प्रश्नकर्ता : क्योंकि हमें लगता है कि वर्तमान अवस्था में हम कहीं नहीं पहुंच रहे।

कृष्णमूर्ति : और अगर आप वर्तमान अवस्था में कहीं पहुंच भी जाएं तो क्या आप बदलना नहीं चाहेंगे?

प्रश्नकर्ता : अपनी वर्तमान अवस्था में हिलने-डुलने की बहुत ही कम सम्भावना है। हम अपने व्यक्तिगत तौर-तरीकों, कुछ घटनाओं में फंसे हुए हैं और बार-बार वही करते हैं। जीवन में हम हमेशा ऐसे जकड़े रहते हैं कि किसी तरह की गति नहीं कर पाते इसलिए हिंसा पैदा होती है।

कृष्णमूर्ति : क्या हम पता लगाएं कि हिंसा के क्या कारण हैं? हरेक की अलग राय होगी : यहां तक कि विशेषज्ञ भी हिंसा के कारणों पर एकमत नहीं हैं; इस बारे में बड़े-बड़े ग्रंथ लिखे गए हैं।

क्या हम कारणों की व्याख्या करते रहेंगे या हिंसा जो है उसे देखेंगे—मानवीय सम्बन्धों में एक बुनियादी मुद्दा। और पता लगाएंगे कि इसे अपने आप को जारी रखना चाहिए या बदलना चाहिए या सुधार करना चाहिए। हिंसा में कौन सा बुनियादी मामला निहित है?

प्रश्नकर्ता : यह प्रत्यक्ष है कि हमें एक पशु मस्तिष्क मिला है। यही असली कारण है। मुझे लगता है जब तक हम इससे बाहर नहीं आ जाते हम नैसर्गिक रूप से हिंसक हैं। आम तौर पर राजनीतिज्ञ किसी फार्म के चूजों की तरह व्यवहार करते हैं।

कृष्णमूर्ति : मुझे पता है! (हँसी)

प्रश्नकर्ता : क्या मन की व्यक्तिगत अवस्था को देखना संभव है ताकि पता लग सके कि क्या हम भीतर से, अंदरूनी तौर पर ही, मानसिक गतिविधियों के तौर-तरीके में ही हिंसक हैं? क्या यह द्वंद्वात्मक तरीका ही हिंसा है?

कृष्णमूर्ति : सर, आप किसे हिंसा समझते हैं?

प्रश्नकर्ता (1) : मेरे विचार से यह खुद में ढूबे रहना है, स्वार्थ है। प्रश्नकर्ता (2) : अलगाव। प्रश्नकर्ता (1) : भय की प्रतिक्रिया।

कृष्णमूर्ति : हमको हिंसक होने की शिक्षा दी गयी है। हमारा पशुवत् स्वभाव और इंसानी दिमाग की हरकतें वौरह ही हिंसक और विभाजनकारी हैं। यह हम जानते हैं। स्वकेन्द्रित गतिविधियां, आक्रामकता, विरोध, प्रतिरोध, जोर देना, इन सब का नतीजा हिंसा है।

प्रश्नकर्ता : हमारे भीतर का एक हिस्सा ऐसा है जो हिंसा से दूर भागता है और एक हिस्सा ऐसा है जो इसे पसंद करता है, इस पर फलता-फूलता है।

कृष्णमूर्ति : हाँ। हमारा एक हिस्सा हिंसा का प्रतिरोध करता है, हिंसा से आतंकित होता है। तो, हम कहाँ हैं?

प्रश्नकर्ता : हिंसा की समस्या की पड़ताल करने की इच्छा सिर्फ आंशिक रूप से देखना है। मेरा मतलब, हम हिंसा की समस्या का पूरी तरह समाधान नहीं करना चाहते।

कृष्णमूर्ति : क्या हम नहीं चाहते?

प्रश्नकर्ता : नहीं।

कृष्णमूर्ति : आइए पता लगाते हैं। क्या हिंसा की समस्या का पूरी तरह समाधान संभव है?

प्रश्नकर्ता (1) : क्या हिंसा के खिलाफ विप्रोह भी एक प्रकार की हिंसा ही नहीं है? मैं सोचता हूँ कि यह बहुत तबाह करने वाला हो सकता है।

प्रश्नकर्ता (2) : यदि मन अपनी कंडीशनिंग (संस्कारबद्धता) के साथ शुरुआत करने में ही हिंसक है तो नतीजा भी हिंसा ही होगा।

कृष्णमूर्ति : फिर हम क्या करें, सर?

प्रश्नकर्ता : क्या हिंसा को टुकड़ों में बांटे या अलग किए बिना देखने में समझदारी होगी?

कृष्णमूर्ति : इन महोदय ने सवाल उठाया है: क्या हम वाकई में सभी तरह की हिंसा से मुक्त होना चाहते हैं।

सवाल का उत्तर दें। क्या हम चाहते हैं? इसका मतलब है कोई द्वंद्व न होना, हमारे भीतर कोई भी द्वंद्वात्मक गतिविधि न होना, कोई प्रतिरोध, विरोध, आक्रामकता न होना, कुछ होने की महत्वाकांक्षा न होना, अपनी राय पर जोर न देना और दूसरे की राय का विरोध न करना। इन सभी में किसी न किसी प्रकार की हिंसा है। सिर्फ आत्म-अनुशासन की हिंसा नहीं बल्कि वह हिंसा भी जो मेरी किसी इच्छा को किसी खास ढर्रे के मुताबिक तोड़ती-मरोड़ती है, उसे एक नैतिक मूल्य बना देती है, या जिस भी तरह से हो; यह सभी हिंसा के रूप हैं। अभिलाषा हिंसा है। क्या हम इस सब से मुक्त होना चाहते हैं? और क्या इंसान इससे मुक्त हो कर जी सकता है?

प्रश्नकर्ता : लगता है उस प्रक्रिया में तनाव जरुरी होता है जिसे हम जीवन कहते हैं। ऐसा लगता है हमें तनाव और हिंसा के बीच फर्क करना होगा। मुझे शिथिल होती रजत मीन (मछली) की कहानी याद आ रही है जो तब तक पूरी तरह जीवंत नहीं होती थी जब तक कुछ मछलियाँ तालाब में नहीं डाली जाती। जीवन का सामान्य तनाव कब थम जाता है और हिंसा शुरू हो जाती है? क्या हम यहां इसमें फर्क कर पा रहे हैं?

कृष्णमूर्ति : तो आप देखते हैं कि तनाव जरूरी है?

प्रश्नकर्ता : हर चीज में दो ध्रुव होते हैं।

कृष्णमूर्ति : कृपया सर, हम पता लगाते हैं। क्या एक इंसान—हम यहीं पर—सभी तरह की हिंसा से मुक्त होना चाहता है?

प्रश्नकर्ता (1) : यह मुझे बहुत ही मुश्किल सवाल लगता है क्योंकि हमारे भीतर भारी संख्या में विरोधाभास भरे हुए हैं। हम इस क्षण कहते हैं कि हम हिंसा नहीं चाहते; दृश्य बदलता है और एक धंटे बाद ही हम हिंसक हो जाते हैं, जकड़ जाते हैं। हम अनेक चेहरों में बंट जाते हैं।

प्रश्नकर्ता (2) : कोई इंसान अपने भीतर की हिंसा की ओर ध्यान देने का गम्भीरता से प्रयास कर सकता है, लेकिन ऐसा व्यक्ति कैसे प्रतिक्रिया करेगा जब वह बाहर हिंसा से सामना करता है।

कृष्णमूर्ति : ठहरिए, सर, वह बाद का सवाल है। क्या हम यहां हिंसा से पूरी तरह मुक्त होने के महत्व को देखते हैं? या हम इसके कुछ भागों को बचा कर रखना चाहते हैं? क्या सभी तरह की हिंसा से पूरी तरह मुक्त होना संभव है?—यानी सभी तरह की चिड़चिड़ाहट, गुस्से से, किसी भी प्रकार की चिंता से और किसी भी चीज के प्रति प्रतिरोध से पूरी तरह मुक्त होना।

प्रश्नकर्ता : मैं सोचता हूं आपके इस सवाल को रखने और किसी अन्य व्यक्ति के यह कहने कि ‘मैं सभी तरह की हिंसा से मुक्त होना चाहता हूं’ में फर्क है। क्योंकि हम सवाल को उत्कटता, जूनून से नहीं देख रहे; दूसरा बाला प्रश्न एक गति है—वह भी एक हिंसक गति।

कृष्णमूर्ति : बस यही है।

प्रश्नकर्ता : मुझे लगता है कि असल चीज या तर्कसंगत बात है सवाल को देखना न कि हिंसा के समाधान की कोशिश करना। मेरे लिए ये दो अलग चीजें हैं।

कृष्णमूर्ति : फिर सवाल क्या है सर?

प्रश्नकर्ता : क्या हिंसा से पूरी तरह मुक्त होना संभव है?

कृष्णमूर्ति : बस यही।

प्रश्नकर्ता : यह हिंसा से मुक्त होने का प्रयास करने से पूरी तरह अलग है।

कृष्णमूर्ति : बिलकुल! फिर मैं क्या करूँ?—क्या यह संभव है?

प्रश्नकर्ता (1) : यदि हम अपने जीवन के रोजमरा के ढर्ए को देखें तो हम पाएंगे कि बिना किसी तरह की हिंसा के—या शायद जिसे यह महोदय तनाव कह रहे हैं—कोई भी समाज में आमतौर पर चारों तरफ से पड़ते हुए दबावों और कठिनाइयों का सामना करते हुए अपना कोई खास काम नहीं कर सकता। जब हम गुस्से में, डरे हुए होते हैं, जैसे हम फँस गए हों, तो हम हिंसा से मुक्ति की बातें करते हैं। लेकिन मुझे महसूस होता है कि हमारे जीवन में हमेशा कुछ न कुछ हिंसा होती है। जीने के बारे में सोचना, कुछ काम करना वगैरह बिना किसी तरह की प्रेरणा के संभव नहीं है और वह मुझे हिंसा लगती है।

प्रश्नकर्ता (2) : क्या तनाव और हिंसा के बीच फर्क नहीं है? ऐसा लगता है कि हिंसा प्रतिरोध और आक्रामकता के कारण असंवेदनशील कर देने वाली होती है। यह कुछ रोकने की कोशिश करती है। जबकि जो कुछ आप करते हैं तनाव उसके साथ चलता है। मुझे लगता है हमें हिंसा और तनाव के बीच के फर्क की समझ होनी चाहिए।

कृष्णमूर्ति : सर, क्या हम उस सवाल को आगे बढ़ा सकते हैं कि क्या इंसान के लिए हिंसा से पूरी तरह मुक्त होना मुमकिन है? कुल मिलाकर हम यह तो समझ ही गए हैं कि हमारा हिंसा से क्या मतलब है।

प्रश्नकर्ता (1) : मुझे नहीं लगता है कि हम समझे हैं। यदि ऊर्जा और हिंसा में कोई अंतर नहीं है तो मैं हिंसा से मुक्त होना नहीं चाहूँगा।

प्रश्नकर्ता (2) : यदि हम हर समय अपनी हिंसा को देख सकें तो कोई हिंसा नहीं होगी।

कृष्णमूर्ति : नहीं सर, इस बिंदु पर पहुँचने से पहले, एक इंसान के तौर पर, क्या मैंने खुद से पूछा कि क्या हिंसा के बगैर रहना संभव है?

प्रश्नकर्ता : जाहिर है कि हमें नहीं पता।

कृष्णमूर्ति : तब फिर आइए खोजबीन करें, सर, पता लगाएं।

अन्य प्रश्नकर्ता : क्या इसके होने का पता लगाने का एक ही तरीका नहीं कि इसे किया जाए?

कृष्णमूर्ति : सिर्फ कीजिए नहीं, खोजबीन कीजिए, इसकी पड़ताल कीजिए, देखिए; प्रतिरोध की इस पूरी गति के प्रति सजग होइए। हिंसा के खतरे को जानिए, इसके बाहरी प्रभावों को देखिए, इसके विभाजन, आतंक वगैरह को। मैं अपने आप से पूछता हूँ : क्या मेरे लिए सभी तरह की हिंसा से मुक्त होना संभव है? मैं वाकई नहीं जानता। इसलिए मैं खोजबीन करता हूँ, मैं पता लगाना चाहता हूँ, शाब्दिक रूप से नहीं बल्कि पूरे जुनून के साथ।

इंसान हजारों सालों से हिंसा के साथ जीता आया है और मैं यह पता लगाना चाहता हूं कि क्या हिंसा के बगैर जीना संभव है। अब मैं कहां से शुरू करूँगा?

प्रश्नकर्ता : क्या आप पहले यह समझने की कोशिश करेंगे कि हिंसा क्या है?

कृष्णमूर्ति : मुझे अच्छी तरह पता है कि यह क्या है : गुस्सा, जलन, बेरहमी, विद्रोह, प्रतिरोध, महत्वाकांक्षा वगैरह। हिंसा क्या है इसको अंतहीन तरीके से परिभाषित करने की हमें जस्तरत नहीं है।

प्रश्नकर्ता : मैं वाकई में महत्वाकांक्षा को हिंसा की तरह नहीं देखता।

कृष्णमूर्ति : नहीं?

— जे कृष्णमूर्ति, द अवेकनिंग ऑफ इंटेलिजेंस (भाग X)

ब्रॉकवुड पार्क में एक छोटे समूह के साथ चर्चा

6 जून 1970, 'हिंसा और मैं'

अनुवाद : चैतन्य नागर

... शेष अगले अंक में



कॉपीराइट सूचना

जे. कृष्णमूर्ति के उद्धरण अंतर्राष्ट्रीय कॉपीराइट नियम के अंतर्गत संरक्षित हैं तथा सर्वाधिकारी की लिखित पूर्वानुमति के बिना किसी भी रूप में पुनः प्रस्तुत नहीं किये जा सकते हैं। सन् 1968 के पूर्व की कृष्णमूर्ति की रचनाओं का कॉपीराइट कृष्णमूर्ति फाउंडेशन ऑफ अमेरिका, ओहाय, कैलिफोर्निया का है। सन् 1968 के बाद की रचनाओं का कॉपीराइट कृष्णमूर्ति फाउंडेशन ट्रस्ट, ब्रॉकवुड पार्क, इंग्लैंड का है।

'कृष्णमूर्ति फाउंडेशन इंडिया' के लिए प्रकाशक, मुद्रक प्रो. पी. कृष्णा द्वारा सत्तनाम प्रिंटिंग प्रेस, एस-1/208 के-1, नयी बस्ती, पांडेयपुर, वाराणसी 221 002 से मुद्रित एवं कृष्णमूर्ति फाउंडेशन इंडिया, राजघाट फोर्ट, वाराणसी 221 001 (उ.प्र.) से प्रकाशित।
संपादक : चैतन्य नागर